अङ्क-२६
जुलाई-दिसम्बर २०१५

वेदविद्या
ISSN-2230-8962

वैदिक संहिता में निहित मानवाधिकार स्त्रोत

डॉ. रामजीत मिश्र

मानव अधिकारों की अवधारणा अति प्राचीन है। यह उतनी ही पुरानी है जितनी कि मानव जाति, समाज और राज्य। मानव अधिकारों की धारणा मानव सुख से जुडी है। मानव सुख की धारणा बढ़ते-बढ़ते सामाजिक सुख, राष्ट्रीय सुख और अन्तर्राष्ट्रीय सुख में परिणत हो गई है। आधुनिक काल में यह माना जाने लगा है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुख-समृद्धि मानव अधिकारों की उपलब्धि और उपभोग पर आधारित है।

आणविक शस्त्रों, हिंसा, आतंकवाद, यंत्रणा आदि से त्रस्त विश्व के लिये मानव अधिकार का सम्मान एवं उसका अनुपालन एक गहरी एवं लम्बी सुरंग से आती हुई प्रकाश की किरण के समान एक ऐसी प्रबल आभा है जो वर्तमान विश्व सभ्यता को विनाश से बचा सकती है। यदि विश्व को युद्धों एवं विनाश से बचाना है तो हमें मानव अधिकारों के प्रति सम्मान एवं उसके अनुपालन की प्रोन्नति करनी होगी।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के पूर्व मानव अधिकारों की स्थिति किसी न किसी रूप में थी। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व ही कुछ लेखकों ने यह मत व्यक्त किया था कि कुछ मूल अधिकार थे, जिन्हें मनुष्य जाति के अधिकार कहते हैं, इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विधि व्यक्तियों को गारण्टी करता है चाहे वह किसी राज्य की राष्ट्रीयता वाले हों या राष्ट्रीयता विहीन हों। इन लेखकों के अनुसार यह अधिकार जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता तथा अन्तर्विवेक की स्वतन्त्रता आदि थे। परन्तु इसमें संदेह था कि यह मत राज्यों के वास्तविक अभ्यास में व्यक्त या प्रकट नहीं होता था। इसके अतिरिक्त यह औपचारिक रूप से स्वीकार किया जाता था कि राज्य अपनी राष्ट्रीयता वाले तथा राष्ट्रीयता विहीन व्यक्तियों के साथ अपने विवेकानुसार व्यवहार कर सकता था तथा यह विषय अन्तर्राष्ट्रीय विधि की चिन्ता का विषय नहीं था। यह नियम किसी सन्धि के अन्तर्गत लिये गये दायित्वों के अधीन था।

हैरोल्ड लास्की के अनुसार, ''अधिकार मानव जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना सामान्यतया कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता।'' मानवाधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जो मानव को मानव होने के कारण मिलने चाहिए। वे अधिकार व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं। मानवाधिकार की प्रङुति और अर्थ की व्याख्या से सम्बन्धित दो प्रमुख दृष्टिकोण हैं-

1. दार्शनिक दृष्टिकोण
2. उपयोगितावादी दृष्टिकोण

मानव अधिकार की व्याख्या की दृष्टि से प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त: मानव अधिकार की संकल्पना घनिष्ट रूप से परम्परागत प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों से सम्ब) है। 17वीं सदी की वैज्ञानिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों, थामस हाब्स के भौतिकवाद, रेने डिस्कार्ड्ड के बुद्धिवाद, फ्रांसिस बेकन और जॉन लॉक के अनुभववाद तथा स्पिनोज़ के विचारों से प्राकृतिक विधि और विश्वव्यापी व्यवस्था में आस्था को प्रोत्साहन मिला। इस सम्बन्ध में जॉन लॉक का चिन्तन तथा अठारहवीं सदी के दार्शनिक मान्टेस्कू वाल्टेयर और जीन जैक्स रूसो के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 1688 ई० की क्रान्ति से सम्बद्ध अपने विचारों से जॉन लॉक ने इस बात को सिद्ध) कर दिया कि कुछ अधिकार प्रकट रूप से व्यक्ति को मनुष्य होने के कारण उपलब्ध हैं। यह इस कारण है कि प्राकृतिक स्थिति में वे विद्यमान थे। उनमें से प्रमुख हैं, जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार और सम्पत्ति का अधिकार। सभी मनुष्य प्राकृतिक रूप से समान हैं। यही मूल भावना प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त में निहित है।

विधिक अधिकार सिद्धान्त: जेर्मी बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इसे विवेकहीन कहा। विधिक अधिकार सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि अधिकार राज्य की रचना है। इस प्रकार न तो वे आत्यन्तिक हैं और न मनुष्य की प्रकृति में अन्तर्निहित।

ऐतिहासिक सिद्धान्त: ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार मानव अधिकार ऐतिहासिक प्रक्रिया की रचना हैं। चिरकालीन रूढ़ि समयानुक्रम में अधिकार का रूप धारण कर लेती है। चिरकालिक अधिकार के उदाहरण हैं,मार्ग का अधिकार, प्रकाश का अधिकार या हवा का अधिकार।

अधिकार का सामाजिक कल्याण सिद्धान्त: सामाजिक कल्याण सिद्धान्त को सामाजिक समीचीनता का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि विधि, रूढ़ि और प्राकृतिक सभी अधिकार सामाजिक समीचीनता पर निर्भर हैं, उदाहरणार्थ, वाक् स्वातंत्र्य का अधिकार आत्यन्तिक नहीं है बल्कि सामाजिक समीचीनता की अपेक्षाओं के अनुसार विनियमित है। सामाजिक विधिशास्त्र के प्रणेता रस्को पाउण्ड इसके समर्थक हैं।

सामाजिक कल्याण सिद्धान्त ने पर्याप्त संख्या में मानव अधिकारों का विकास किया है। भारी भरकम संख्या में आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा और तदनन्तर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में सम्मिलित किया गया।

अधिकार का आदर्शवादी सिद्धान्त: आदर्शवादी सिद्धान्त को अधिकार का व्यक्तित्त्ववादी सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त का आग्रह मनुष्य के आन्तरिक विकास, पूर्ण अन्तःशक्ति के विकास पर है। यह व्यक्तित्त्व विकास के अधिकार को सर्वोच्च और आत्यन्तिक मानता है जैसे कि प्राण का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि सभी अधिकार व्यक्तित्त्व विकास के मूल

अधिकार से उद्भूत तथा उससे सम्बन्धित हैं। उदाहरण स्वरूप प्राण का अधिकार उसी सीमा तक है जहाँ तक वह अपनी अन्तःशक्ति के विकास के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से समाज जीवन लीला समाप्त करने या आत्महत्या की अनुमति नहीं दे सकता।

उपयोगितावादी दृष्टिकोण: यह सिद्धान्त मानव अधिकार को परिभाषित करने के बजाय मानवाधिकारों की एक सम्मत सूची को महत्त्व देता है। इसके अनुसार मानव अधिकार का अर्थ मानवाधिकारों की सम्मत सूची से लेना चाहिए। उदाहरण के लिए भारतीय संविधान के भाग 3 में मूल अधिकारों की कोई परिभाषा नहीं दी गयी है, बल्कि मूल अधिकारों की एक सूची दी गई है। इस सूची से यह अभिप्राय लिया जाता है कि मूल अधिकार राज्य की शक्ति पर निर्बंधन हैं और राज्य उनके विषय में दिये गये मार्गदर्शन को मानने के लिए आब) है।

इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र चार्टर में निर्दिष्ट 'मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रता' का अर्थ मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा, सिविल और राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में दी गयी मानव अधिकारों की सूची से है।

वस्तुतः मानवाधिकार सम्बन्धी इन सभी सिद्धान्तों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। इनमें कोई भी पूर्ण नहीं लेकिन सबकी अपनी उपयोगिता है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना के अनुसार भारत एक "प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी धर्म-निरपेक्ष एवं प्रजातान्त्रिक गणतन्त्र है।" प्रस्तावना का "प्रारम्भ हम भारत के लोगों ने भारत को एक प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष प्रजातान्त्रिक गणतंत्र बनाने का गम्भीरता से निर्णय लिया है" शब्दों से हुआ है।

प्रस्तावना में प्रजातंत्र की धारणा को बहुत महत्त्व दिया गया है। उच्चतम न्यायालय ने बिल्कुल सही उद्घोषित किया है, प्रजातंत्र हमारे संविधान का आवश्यक विशेषतया मौलिक ढाँचे का भाग है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत मानव अधिकारों की धारणा को समझने के लिये प्रस्तावना के मुख्य उद्देश्यों एवं लक्ष्य, जो वास्तव में भारतीय संविधान के मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य हैं, को देखना होगा, प्रस्तावना संविधान-निर्माताओं के उच्च उद्देश्यों एवं उच्च प्रयोजनों को प्रतिबिम्बित करता है। प्रस्तावना के शब्द में लोगों की आशाएँ एवं आकांक्षाएँ निहित हैं तथा संविधान के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दर्शन को प्रकट करते हैं।

मानवाधिकारों को तीन कोटियों में वर्गीकृत किया गया है, 1. प्रथम पीढ़ी के मानवाधिकार, 2. द्वितीय पीढ़ी के मानवाधिकार, 3. तृतीय पीढ़ी के मानवाधिकार। प्रथम पीढ़ी के अधिकार चिरकालीन स्थापित मूल्यों को निर्दिष्ट करते हैं। भारत के संविधान के भाग 3 में इन अधिकारों को सम्मिलित किया गया है। द्वितीय पीढ़ी के अधिकारों में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय

संविदा में सम्मिलित विभिन्न अधिकार आते हैं। तृतीय पीढ़ी के अधिकारों में सामूहिक अधिकार परिगणित हैं।

यह निर्विवाद सत्य है कि मानवीय सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान, कला आदि के चिरन्तन स्रोत हमारे आर्ष देव काव्य वेद हैं। इस काव्य की दिव्यता का यही प्रमाण है कि यह न जीर्ण होता है, न मृत्यु को प्राप्त करता है। वेदों में मानवाधिकार के अत्यावश्यक सभी तत्त्वों का संकेत किसी न किसी रूप में अवश्य ही मिल जाता है। इसी के संक्षिप्त प्रकाशन का प्रयास इस शोधपत्र के माध्यम से किया जा रहा है।

विश्व के प्राचीनतम आर्ष काव्य ऋग्वेद में अधिकांश मानवाधिकारों का प्रतिपादन किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। ऋग्वेद में मानव, मानवाधिकार तथा मानव जीवन की सफलता के दिशा निर्देश प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। तत्कालीन मानव सामाजिक, नैतिक गुणों से विभूषित, सर्वहितचिन्तक, शुभसंकल्पसम्पन्न, सन्तुष्ट, परार्थचिन्तनरत तथा मानवाधिकार का रक्षक था। ऋग्वेदकालीन समाज में प्रायः सभी निश्छलभाव से कर्त्तव्यपरायण थे। अतः वहाँ कर्त्तव्यों के साथ-साथ अधिकारों की रक्षा स्वाभाविक रूप से होती रहती थी। इस सन्दर्भ में न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर का कथन है, "मानवाधिकारों की संकल्पना पश्चिम की देन है, क्योंकि अधिकारों की क्रान्ति का आरम्भ वर्तमान युग में ही दिखाई देता है, फिर भी समानता, सहयोग और सहकारिता के सिद्धान्त के जनक वेदों में मानवाधिकार की धारणा स्वाभाविक रूप से विकसित देखी जा सकती है।"

मानवाधिकार के अनुच्छेद-26 में प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है। वैदिक ऋषि इस तथ्य से अवगत थे कि शिक्षा से ही मानव की सर्वतोमुखी उन्नति सम्भव है। अतः उन्होंने शिक्षा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, वह आज भी ग्राह्य एवं अनुकरणीय है। ऋग्वेदकालीन शिक्षा-व्यवस्था राज्य-प्रशासन के अधीन न होकर आचार्य कुलों के अधीन थी। तत्कालीन शिक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक था। अध्ययन में सभी विषयों का समावेश था। शिक्षा जीवन को समग्रता प्रदान करती थी। उस समय लौकिक-अलौकिक सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। नारी शिक्षा तो उस समय बहुत उन्नत अवस्था में थी। ऋग्वेद के दस हजार पाँच सौ अस्सी मन्त्रों में से प्रायः दो सौ मन्त्रों का दर्शन ऋषिकाओं ने किया है। स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके सभी प्रकार के विषयों का अध्ययन करती थीं। पुरुषों और स्त्रियों के अध्ययन क्षेत्र प्रायः समान थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि अश्विद्वय! मैं तुम दोनों को बुलाती हूँ। सुनो, जैसे पिता पुत्र को शिक्षा देता है, वैसे ही मुझे शिक्षा दो। मेरा कोई यथार्थ बन्धु नहीं है, मैं ज्ञान शून्य हूँ।

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि शूद्रवर्ण में उत्पन्न स्त्रियों को भी विकास के अवसर प्राप्त रहे हैं। दासीपुत्र कक्षीवान् की पुत्री काक्षीवती घोषा के द्वारा साक्षात्कृत अनेक मन्त्र ऋग्वेद में मिलते हैं। स्त्रियों के गौरव-ज्ञापन की परम्परा तो ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हो गयी थी, जिसमें उन्हें घर का पर्याय तथा

स्वर्गिक सुख का केन्द्र बतलाया गया है, जायेदस्तं मघवन्त्सुदु योनिः। (ऋ.सं. 3.53.4) एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि पति-पत्नी का मिलन उसी प्रकार है जैसे वृक्ष को जल से सींचना, सुशील और कल्याणी पत्नी की प्राप्ति पुरुष के सौभाग्य की पराकाष्ठा है-

याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्नमर्यः।
ता अध्वर्यो अपो अच्छापरेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात्॥ (ऋ.सं. 10.30.5)

ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में स्त्री को परिवार में ब्रह्मा के समकक्ष कहा गया है-

'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ'। (ऋ.सं. 8.33.19)

अपाला का नाम ब्रह्मवादिनी के रूप में प्रसि) है। अपनी तपश्चर्या के प्रभाव से अपाला ने ऋग्वेद के आठवें मण्डल के 91वें सूक्त की सम्पूर्ण सात ऋचाओं का दर्शन किया था। इस सूक्त के ७ वें मन्त्र में 'अपाला' के नाम का भी उल्लेख है। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि उपर्युक्त सम्पूर्ण सूक्त की दर्शनकर्त्री ऋषिका अपाला ही है। इसकी पुष्टि बृहद्देवता (6/99/160), सायण भाष्य (8/91) और नीतिम॑ जरी (पृ. 278/81) से भी होती है।

ऋग्वेदीय इस सूक्त में अपाला के वैदुष्य का पता चलता है, जिसके कारण वैदिक साहित्य में उसकी ख्याति है। इन्द्र की स्तुतिपरक प्रार्थना, जिसे अपाला ने सूक्त की ऋचाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है, उसका सारांश है-

हे देव! हम ऋषि कन्याएँ आपका साक्षात्कार करना चाहती हैं, परन्तु आपको जानने में असमर्थ हैं। आपकी असीम महिमामयी माया है, जिसके कारण आपको अज्ञेय माना गया है, हे सोम! इन्द्र को प्रसन्न करने के एकमात्र तुम्ही साधन हो। अतः तुम इन्द्र के लिये धीरे-धीरे प्रवाहित होकर हमारी स्तुतियों को चरितार्थ करो। हम तुम्हें सामर्थ्यवान् इन्द्र के लिये निष्पन्न करती हैं, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् हमें 'अपाला' से 'सुपाला' बना दें। वैदिक संहिता काल की नारियाँ पुरुष के पौरुष को भी चुनौती देने में कभी पीछे नहीं रहीं। पति कृशाश्व से परित्यक्ता अपाला ने अपने तप के प्रभाव से अपने शरीर को तप्त सुवर्ण की भाँति दिखाकर अपने पति को आश्चर्यचकित कर दिया। सबला नारी ने सिद्ध कर दिया कि वह अपने तप, त्याग और बलिदान से नर, नारायण को भी झुका सकती है। अति प्राचीन काल से ही भारतीय समाज ने स्त्रियों के महत्त्व को स्वीकार कर उनके समुचित अधिकारों को ही सुरक्षित नहीं किया, अपितु उनके सर्वाङ्गीण विकास के लिए शारीरिक, व्यावसायिक, आध्यात्मिक सभी प्रकार की शिक्षा की भी सुविधा प्रदान की है।

वैदिक काल से ही स्त्रियों के शिक्षित होने के प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलने लगते हैं। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों का दर्शन ऋषिकाओं ने किया था। कक्षीवान् की पुत्री घोषा ने ऋग्वेद के दशम मण्डल के 39वें और 40वें सूक्त का, अपाला ने आठवें मंडल के 91वें सूक्त का और विश्ववारा ने पाँचवें मण्डल के 28वें सूक्त का दर्शन किया था। रोमशा और सूर्या भी ऋषिकायें थीं। इतने उच्च कोटि के साहित्य का

सृजन उदात्त शिक्षा के अभाव में कैसे सम्भव था? पेशस्करी, विदलकारी जैसे पेशे वाचक नामों को देखकर यह अनुमान लगाना कदाचित् अनुचित न होगा कि वैदिक काल में स्त्रियों को अक्षरज्ञान के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा भी दी जाती थी।

ऋग्वेद में मनुष्यमात्र को परमपिता की सन्तान कहा गया है, अतः सभी समान हैं। स्थान, भाषा, जाति, लिंग आदि की भिन्नता के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं होना चाहिए। एक मन्त्र में स्पष्ट निर्देश है कि सभी ईश्वर की संतति हैं, **विश्वे अमृतस्य पुत्राः**। (ऋ.सं. 10.13.1) इन मनुष्यों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।' (ऋ. 5.60.5) ऋग्वेद में छोटे, बड़े, समवयस्क तथा वृद्ध सबके प्रति समान रूप से सम्मान प्रदर्शित करने का निर्देश दिया गया है, '**नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः**' (ऋ.सं. 1.27.13)

प्रकारान्तर से ये सभी उल्लेख समानता की ओर संकेत करते हैं। समानता की भावना वह भावना है जो समस्त प्राणियों को प्रेम सूत्र में आबद्ध कर उन्हें परस्पर सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने के लिये प्रेरित करती है। वैदिक ऋषि मन, वचन, कर्म, परिवेश तथा उद्देश्य सबमें समता का उद्घोष करते हैं इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सौ इक्यानवें सूक्त के मन्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय एवं मननीय हैं जिनमें मन्त्र, समिति, मन, चित्त, अध्यवसाय, हृदय, अन्तःकरण की समानता का कथन हुआ है, समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ **समानी वः आकूति समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।** (ऋ.सं. 10.191.4)

यहाँ यह ध्यातव्य है कि विषम भाव अशान्ति और दुःख का प्रयोजक है तथा सम भाव, शान्ति और आनन्द का जनक है। मानवाधिकार के सातवें अनुच्छेद में उल्लिखित समता विषयक अधिकार का यह सुन्दर निदर्शन है।

ऋग्वेद संहिता के 10.191.3 और 10.191.4 मन्त्रों से स्पष्ट है कि मनुष्य को मानसिक संकीर्णता को त्यागकर व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। सबके साथ सहानुभूति, सहयोग और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। एक दूसरे की सर्वदा रक्षा और सहायता करना मनुष्य को अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए।

ऋग्वेद के ऋषि सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों को समान मन वाला बनने का संदेश देते हैं-

उत बुध्यध्वम समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वम् बहवः सनीळाः।
दधिकामग्निमुषसम् च देवीम् इन्द्रावतोऽवसे निह्वये वः ॥ (ऋ.सं. 10.101.1)

ऋग्वैदिक ऋषियों की प्रार्थनाएँ सार्वभौमिक, सार्वकालिक और विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। ऋग्वैदिक मन्त्रों में मानवमात्र के लिये सौहार्द, मित्रता, समानता, संगठन और साहाय्य की भावनाएँ पायी जाती हैं। ऋग्वैदिक समाज समानता का पोषक है। ऋग्वेद में कहीं पर भी

विशेष धर्म या सम्प्रदाय को ध्यान में रखकर कोई बात नहीं कही गयी है वरन् स्थान-स्थान पर सम्पूर्ण मानव जाति या प्राणिमात्र के हित साधन की बात है। यही कारण है कि ऋक्मन्त्रों में निहित उदात्त विचार आज भी प्रासंगिक है। ऋग्वेद में मानव जीवन की उन्नति के लिए जिन उच्च विचारों और उदात्त भावनाओं की महत्ता को स्वीकार किया गया है, उनमें मानव समानता की भावना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भावना अन्तःकरण की निर्मलता का आधार और सम्पूर्ण मानवीय गुणों के विकास का केन्द्र बिन्दु है। इसे एक ओर आत्मसाक्षात्कार का प्रथम सोपान माना गया, तो दूसरी ओर मानव मात्र में अपेक्षित भावात्मक एकता और राष्ट्रीयता का मूल माना गया। समानता की भावना से ओत-प्रोत चित्त स्वार्थ रहित होने के साथ-साथ पदार्थ विशेष के प्रति निष्ठावान् हो जाता है।

ऋग्वेद ने प्रत्येक प्राणी को शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ जीवन यापन का अधिकार दिया है। मनुष्य को अनुशासित, सन्तुष्ट, सुखी, दुर्भावना, दुर्व्यसन तथा दुश्चिन्ता से रहित जीवन जीना चाहिए। वेदों में हिंसा का निषेध करते हुए पशुओं एवं वनस्पतियों तक की हिंसा का प्रत्याख्यान किया गया है। ऋग्वेद ने छः प्रकार के निषि) कर्मों का उल्लेख किया है, 1. चोरी, 2. वेश्यावृत्ति, 3. विद्वान् का वध, 4. मद्यपान, 5. गन्दी आदतों की पुनरावृत्ति, 6. पापाचार। छः दुर्गुणों का भी एक ऋग्वेदीय मन्त्र में उल्लेख मिलता है, 1. अज्ञान, 2. निर्दयता, 3. ईर्ष्या, 4. वासना, 5. अहंकार, 6. लालच।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र।। (ऋ.सं. 7.104.22)

बिना वितरण किये अकेले समृद्धि का उपभोग करने वाला निन्दित होता है। अतः इससे यह संदेश मिलता है कि प्राकृतिक सम्पदाओं पर सबका अधिकार है। अतः सबको उनका उपभोग करते हुए जीवन जीने का अधिकार है।

ऋग्वेद के मन्त्र में 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' ऐसा कहा गया है। मनुष्य परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें और निर्भय रहें। ये दोनों बातें वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिये अनिवार्य हैं। यह तथ्य हम सभी स्वीकार करते हैं कि सभी मनुष्य जन्म से समान हैं। सभी मनुष्यों को ईश्वर ने कुछ ऐसे अधिकार प्रदान किये हैं जिन्हें कोई छीन नहीं सकता। इन अधिकारों में जीवन, स्वतन्त्रता तथा अपनी समृद्धि के लिये प्रयत्नशील रहने के अधिकार भी सम्मिलित हैं। यद्यपि सभी मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न हुए हैं, परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वहीं तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है।

सभी को अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार भारतीय परम्परा में व्यवसाय चुनने का अधिकार प्राप्त रहा है, इसके साक्ष्य ऋग्वेद से ही प्राप्त होने लगते हैं तद्विषयक कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं-

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।

तक्षारिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दोपरिस्रव॥ (ऋ.सं. 9.112.1)

उस समय बढ़ई (तक्षा) शिल्पियों का अगुआ था। वह यु) या सवारी के लिये रथ, माल ढोने के लिए छकड़े (अनस् 3.33.9) बनाता था जिसकी छत छदिस् कहलाती थी (10.85.10)। वह परशु (1.105.18) और बसूले से काम करता था और सुन्दर नक्काशी का काम करता था, प्रिया व्यक्ता तष्टानि (ऋ. 10.86.5)। धातु का काम करने वाले कर्मार कहलाते थे। (ऋ. 10.72.2), जो धातु को आग में गलाते थे (अधमत् 10/72/2) (ऋ. 5/9/5, उपध्माता इव धमति)। वह चिड़ियों के पंखों की धौंकनी (पर्णेभिः शकुनीनाम्द्ध और सूखी लकड़ियों से धातु गलाकर उसके बर्तन बनाता था (अयस्मय घर्मः 5/30/15)। लोहे को पीटकर भी बर्तन बनाये जाते थे (अयोहत, 9/1/2)। सुनार (हिरण्यकार) सोने के आभूषण गढ़ता था (1/122/2)। चर्मकार प्रत्य´ चा, गोफना, रथ कसने की बद्धियाँ, रास, चाबुक, मशक (दृति) आदि चमड़े का सामान तैयार करता था। कपड़ा बुनने वाला (वासो वाय, 10/26/6) अपने करघे (वेम) पर बुनाई का काम करता था। बुनने की करघी 'तरस' कहलाती थी। ताना 'ओतु' और बाना 'तन्तु' कहलाता था (6/2/9)। उस समय बुनाई का काम प्रायः स्त्रियाँ करती थीं (1/92/3)। एक मन्त्र (9/112/3) में ऋषि ने अपने पिता को भेषज और माँ को चक्की पीसने वाली (उपल प्रोक्षणी) कहा है।

उस समय यह प्रथा थी कि मारे गये व्यक्ति के सम्बन्धियों को धन देकर उसकी जान के बदले में उऋण हो सकते थे। एक व्यक्ति को शतदाय (2/32/4) कहा गया है क्योंकि उसके प्राणों का मूल्य सौ गायें थीं। इस प्रकार प्राणाघात के लिये द्रव्य देने की प्रथा से आँख के बदले आँख निकालने और दाँत के बदले दाँत तोड़ने की आदिम क्रूर प्रथा में सुधार हुआ और बदला लेने के निजी अधिकार पर पाबन्दी लगी।

स्त्री और पुरुष में आभूषण पहनने को लेकर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं था। दोनों ही सोने के आभूषण पहनते थे जैसे कानों में कर्णशोभन (8.78.3), गले में निष्क (1.33.10) हाथों में कड़े और पैरों में खड़ुवे, वक्षस्थल पर रुक्म, गले में मणियाँ आदि। स्त्री-पुरुष आमोद-प्रमोद में सोत्साह भाग लेते थे। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। स्त्री-पुरुष दोनों ही झाँझ-मजीरे आदि वाद्यों के साथ नृत्य में भाग लेते थे।

सांघिक तथा सामुदायिक जीवन ही मानव जीवन है, मानव की अमरता संघ से ही सि) होने वाली है। शुक्ल यजुर्वेद संहिता के प्रथम अध्याय की प्रथम कण्डिका में ऐसा उपदेश दिया गया है कि सब मिलकर अपने सभी लोगों की उन्नति के लिये जो करने योग्य एवं प्रशंसनीय कार्यकलाप हैं, उन्हें कार्यरूप में परिणत करें। इस मंत्र में कहा गया है कि हर मानव या मानव समुदाय को उचित है कि वह 'श्रेष्ठतम कर्म' निष्पन्न करने की महत्त्वाकांक्षा अपने सामने रखे। ध्यान रहे कि संपूर्ण यजुर्वेद में जहाँ कहीं भी 'कर्म करो' ऐसा उपदेश है वहाँ श्रेष्ठतम, सराहनीय कर्म ही अभीष्ट है। 'आप्यायन्तु ममांगानि

वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमयो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्म)। इस मंत्र की 'आप्यायन' क्रिया से दर्शाया गया है कि शारीरिक, मानसिक, वैयक्तिक तथा सामुदायिक, सभी प्रकार की उन्नति वांछनीय है। हम सभी विकसित हों, हम सभी उन्नत बनें, इसीलिए अन्न प्राप्त करना, बल बढ़ाना, प्राणशक्ति को पल्लवित करना और अत्यन्त श्लाघनीय कर्म सामुदायिक उन्नति के लिये करना अत्यन्त आवश्यक है। तुम सभी 'अघ्न्याः' अवध्य हो, तुम्हारी शक्तियाँ क्षीण न हों। हे मानवो! ध्यान में रखो कि तुम्हारा विनाश तुम्हारे या दूसरों के द्वारा कभी न होने पाये। सब प्रकार से तुम्हारी उन्नति हो। जिससे तुम्हारी वृद्धि हो, ऐसे ही कार्य तुम्हें करने चाहिए और यदि कोई तुम्हारा विनाश करने का प्रयत्न करे तो तुम उसका प्रतिकार करो। यही इस समय तुम्हारा प्रशस्ततम श्रेष्ठ कर्म है। इस यजुर्वेद में जिन कर्मों को करने के लिये आदेश दिये गये हैं वे सभी 'अध्वर' अर्थात् 'अकुटिल कर्म, अहिंसा पूर्ण कर्म' कहलाते हैं। इन्ही कर्मों की यज्ञ संज्ञा है, ते यज्ञपतिः मा ह्वार्षीत्। इस मंत्रभाग का अर्थ है कि समुदाय का हर एक व्यक्ति, समूचा संघ और संघ का नेता सभी सरल व्यवहार के अभ्यस्त बनें और कोई भी कुटिलता का आश्रय न ले। 'मधुमतीः मधुमतीभिः संपृच्यन्तां' (यजु० 1/21) मधुर मधुरों से मिलजुलकर रहें। इनमें असमानता पैदा करने वाला कोई कड़वा या तीखा न आ जाये। जिनके विचार एवं आचार में मिठास भरी रहती है, उनकी संघशक्ति अभेद्य हुआ करती है। अतः संगठन-शक्ति बढ़ाने वालों को आपस में मधुरता बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए और उसकी सहायता से अपनी सामुदायिक शक्ति अटूट तथा अक्षुण्ण बनाये रखनी चाहिए।

समानता की दृष्टि से उन मन्त्रों का विशेष महत्त्व है जिनमें सभी मनुष्यों या सभी प्राणियों के माता-पिता के रूप में परमेश्वर का स्तवन किया गया है। यजुर्वेद में एक स्थान पर कहा गया है, हम सब प्रजा के पालक राजा और परमेश्वर की सन्तानें बनी रहें, प्रजापतेः प्रजाअभूम। (यजुवेद संहिता 9.21)

इसी सन्दर्भ में वे मन्त्र भी द्रष्टव्य हैं जिनमें द्यौस् को सभी प्राणियों का पिता और पृथ्वी को माता कहा गया है, तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः। (वा.सं. 25.17)

जब सभी प्राणियों के माता-पिता समान हैं तो उनकी सन्तानों में असमानता कैसे हो सकती है?

यजुर्वेद सभी मानवों को यह उपदेश देता है कि सभी मानव परस्पर मिल जुलकर रहें, 'योगे योगे सखायः।' (यजुर्वेद, 11/14)

प्रत्येक कार्य में मित्रता से सब रहें। परस्पर द्वेष न करें।

वैदिक आर्य सभी को समान रूप से उन्नत, सुखी व सम्पन्न देखना चाहते थे, नः शर्म यच्छ।

(यजुर्वेद, 114.10)

मनुष्यों के व्यवहार में सुधार की दृष्टि से समानता का दूसरा आधार है, द्वेष राहित्य। वैदिक ऋषि का व्यावहारिक आदर्श है कि कोई किसी से द्वेष न करे। सौमनस्य के व्यावहारिक आधार के रूप में

सहभोज और सहपान का स्पष्ट उल्लेख यजुर्वेद के मन्त्रों में दृष्टिगोचर होता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि अपने साथियों के साथ सहपान और सहभोज मुझे प्राप्त हो, सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे। (वा.सं. 18.9)

भेदभाव को त्याग कर सहभोज करने पर अन्यत्र भी बल दिया गया है, समानी प्रया सहवोऽन्नभागः समाने योक्रे सह वो युनज्मि।

ऋषियों का आदर्श है कि सभी एक धुर होकर विचरण करें, संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।

गति, उद्देश्य और क्रियाओं की समानता पूर्ण साम´जस्य के लिये अति आवश्यक है, सध्रीचीनान् व संमनयस्कृणोमि। (यजु. 36.18)

यजुर्वेद के समय भी लोग अपनी रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनते थे। तत्कालीन धन्धों और पेशों की सूची वाजसनेयी संहिता 30/7 में दी हुई है। इस रोचक सूची में कई नये पेशेवरों के नाम हैं जैसे कई तरह के मछुवे (धीवर, दाश और कैवर्त), किसान (कीनाश) और खेत बोने वाले (वप्द्ध, धोबी (वास पल्पूली), मनिआर (मणिकार), वेंत का काम करने वाले (बिदलकारी), रस्सी बटने वाले (रज्जु सर्ज), रथकार धनुष्कार, इषुकार, लोहा गलाने वाले लुहार (अयस्ताप), सुनार (हिरण्यकार), कुम्हार (कुलाल), बन-जंगल की देख-रेख करने वाले (बनप), जंगली आग बुझाने वाले (दावप), गोपाल, भिषज, वस्त्रों पर सुईकारी या कमरवाब का काम करने वाले, इत्यादि।

उद्योग-धन्धों में लगी हुई स्त्रियों का भी उल्लेख है, जैसे रंगने वाली (रजयित्री), सुईकारी का काम करने वाली या कसीदा काढ़ने वाली (पेशस्कारी), बाँस का काम करने वाली (कण्टकीकारी) और बेंत की टोकरी आदि बनाने वाली (विदलकारी)।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसलिये अपनी उन्नति करने के लिये उसे सांघिक जीवन में रहना पड़ता है। वह अकेला रहकर उन्नति नहीं कर सकता। वैयक्तिक जीवन के लिए उतने स्वार्थत्याग की आवश्यकता नहीं होती जितनी सामुदायिक उन्नति के लिये। इसलिए सामुदायिक जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्यों को चाहिये कि वे ऐसा व्यवहार करें कि जिससे समाज में परस्पर विरोध न हो। इसलिए अथर्ववेद में कहा गया है-

वः मनांसि सं, वः व्रतानि सं, वः आकूती सम्।

'तुम्हारे मन, तुम्हारे काम और तुम्हारे संकल्प पूर्णरूप से एकता बढ़ाने वाले हो।'

इसमें 'सं' उपसर्ग 'उत्तमता' और 'एकता' का द्योतक है। मनुष्य की वाणी, मन और कर्म सब एकता करने वाले हो। कई मनुष्य ऐसे होते हैं कि बाह्यरूप से तो कोई बुरा काम करते नहीं दिखते पर भीतर ऐसे संकल्प करते हैं कि जिससे समाज में विघटन पैदा हो। इसलिए उक्त मंत्र में कहा है कि संकल्प भी उत्तम और एकता करने वाले हों। इस प्रकार समस्त जनता को एकता के मार्ग पर लाने से और समाज से बुरा व्यवहार दूर करने से उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है पर इसके लिये आवश्यक है कि मनुष्य स्वयं का आचरण शु) रखें। इसलिए अथर्ववेद में उपदिष्ट है-

अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि।

मैं अपने मन से दूसरों के मन को आकर्षित करता हूँ और इस प्रकार मैं दूसरों के हृदय को अपने अधिकार में करता हूँ।

इस मंत्र में अपने शुभाचरण से दूसरों के मन को आकर्षित करने का उपदेश है पर यह सामर्थ्य शुभ और सत्य संकल्प के कारण ही उत्पन्न होता है।

ऐसे पुण्यात्मा और धर्मात्मा जिस राष्ट्र में अधिक रहते हैं और जहाँ की जनता तदनुसार अपना आचरण करती है, उस राष्ट्र को 'संवेश्य राष्ट्र' कहते हैं क्योंकि उस राज्य में प्रवेश करते ही उसमें रहने की इच्छा होती है। इस प्रकार के राष्ट्र के लिये प्रार्थना की गयी है-'अस्मभ्यं बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु।'

'हम सबको देवगण प्रवेश करने योग्य राष्ट्र देवें।'

इस प्रकार के संगठन के लिये आवश्यक है कि सबका ज्ञान एक समान हो। सभी समभाव से परस्पर मिलें। ऊँच-नीच की भावना न रहे। सबके मन शुभ संस्कार से युक्त हों। सभा में सब समानाधिकार से बर्ताव करें। इस प्रकार का संगठन हो तो उस राज्य पर कोई भी शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में ऋषि ने हार्दिक और मानसिक सौमनस्य की स्थापना करने का प्रयत्न किया है, **सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः**। (अथर्व.सं. 3.30.1)

सहकारिता, सहिष्णुता और समान लक्ष्य को भी समाज की उन्नति के लिये महत्त्वपूर्ण बताया गया है, **समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।** (अथर्व.सं. 3.30.6)

समचित्तता की महत्ता को स्वीकार करके ही ऋषियों ने सभी मानवों में शरीर, मन, कर्म तथा हृदय की सद्भावना पर बल दिया है।

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः। (अथर्व.सं. 6.74.2) ऋषि ने सभी में एक मन बनाने की प्रार्थना की है, **इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह।** (अथर्व.सं. 6.74.3)

अथर्ववेद में ऋषि ने प्रार्थना की है, तुम्हारे जलपान का स्थान एक हो। भेदभाव को त्याग कर सहभोज करने पर अन्यत्र भी बल दिया गया है।

मनुष्य समाज में रहकर ही विकास कर सकता है, इसलिए समाज में रहते हुए उसे संगठन भी बनाये रखना पड़ता है। यदि जाति या समाज में ऐक्य न हो, तो मनुष्य विनष्ट हो जाय। इसलिये जो राष्ट्र अपनी संघशक्ति बढ़ाता है, वही सर्वत्र विजयी होता है जिस जाति या राष्ट्र में मतभेद होता है, वे स्वतन्त्रता पा ही नहीं सकते और किसी तरह प्राप्त कर भी ले तो वे अधिक समय तक अपनी स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रख सकते।

मनुष्य समाज का अंग है। अंगों के विकृत होने से सम्पूर्ण समाज रूपी शरीर का विकृत होना स्वाभाविक है। इसलिये सबसे पहले मनुष्य को चाहिए कि वह अपना सुधार करे। अथर्ववेद यह आदेश देता है कि समाज सुधार का प्रारम्भ सर्वप्रथम अपने जीवन से करे। हृदय या अन्तःकरण के सुधार से सारे सुधार सहज ही हो सकते हैं। इसलिये अथर्ववेद में कहा गया है-

सहृदयम्, हृदय के भावों की समानता अर्थात् दूसरों के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझना। जब तक सुधारक सब मनुष्यों को आत्मवत् नहीं समझ लेता तब तक वह समाज सुधार का अधिकारी नहीं होता।

सांमनस्य, मन उत्तम भावों और शुभ संस्कारों से पूर्ण हो।

अविद्वेषम्, एक दूसरे से द्वेष न करना, परस्पर कलह न करना। मनुष्य का व्यवहार ऐसा हो कि वह किसी से द्वेष न करे। यह मनुष्य व्यवहार का आदर्श है। यहाँ 'अविद्वेष' शब्द है, जिसका अर्थ है, प्रेम पूर्ण व्यवहार। इसका एक सुन्दर उदाहरण अथर्ववेद से अंकित है-

अन्यो अन्यं अभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या।

'एक दूसरे से ऐसा प्रेम करो, जैसे गाय सद्यः प्रसूत बछड़े से करती है।'

वे जैसे प्रेम करते हैं, वैसा प्रेम व्यवहार यहाँ अभीष्ट है। 'अविद्वेष शब्द का अर्थ केवल 'वैर या द्वेष न करना' इतना ही नहीं है,यह उसका निषेधात्मक रूप है 'द्वेष न करना, हिंसा न करना'। ये एक सिद्धान्त के निषेधात्मक पहलू हैं। इसके विध्यात्मक पहलू हैं, प्रेम करना, दया करना' आदि। इसका आचरण सर्वप्रथम अपने ही घर में होना चाहिए। पुत्र पिता के अनुकूल कर्म करे, पत्नी पति से मधुरता और शान्ति से बोले। भाई-भाई और बहन-बहन आपस में द्वेष न करें, कलह न करें। सब मिलजुल कर परस्पर मीठी वाणी बोलें, जिससे वैर और विद्वेष न हो, ऐसा उत्तम ज्ञान सभी को प्राप्त करना चाहिए। यह एक आदर्श कुटुम्ब का व्यवहार है।

यहाँ यह भी बतलाया गया है कि जाति या समाज के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

ज्यायस्वन्तः, अपने से बड़ों का सम्मान करना चाहिए।

माविषौष्ट, परस्पर विभक्त नहीं होना चाहिए। आपस में भेद बढ़ने नहीं देना चाहिए।

सधुराः चरन्तः, एक धुरा के नीचे रहकर आगे बढ़ना चाहिए। यहाँ धुरा का अर्थ है, धुरीण, नेता। नेता भी एक ही होना चाहिए। एक नेता के नीचे रहकर सभी प्रगति कर सकते हैं। जिस संस्था या जाति में अनेक नेता होंगे, वहाँ अवश्य ही भेदभाव और लड़ाई-झगड़ा बढ़ेगा।

सध्रीचीनाः, कोई भी कार्य संगठित होकर करना चाहिए।

संराधयन्तः, मिलकर सफलता के लिये प्रयत्न करना चाहिए।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत, आपस में प्रेमपूर्वक वार्तालाप करते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में खाने पीने और उपासना करने का तौर तरीका एक-सा ही रखने का उपदेश है। जाति एक चक्र के समान है।' जिस प्रकार चक्र के आरे एक नाभि या केन्द्र से जुड़े हुए होते हैं, उसी प्रकार सभी मानव राष्ट्र के केन्द्र से जुड़े हुए होते हैं। समाज में सब मनुष्यों की एकता उसी प्रकार रहनी चाहिए जिस प्रकार चक्र में अरों की एकता रहती है।

पर यह एकता भी तभी हो सकती है जब लोगों में सेवा भाव हो। 'संवनन' शब्द का अर्थ ही है, 'उत्तम प्रकार से प्रेमपूर्वक साहाय्य करना। प्रेमपूर्वक दूसरों की सहायता करना सेवासमिति का कार्य है, इस विषय में अथर्ववेद में कहा गया है-

संवनेन सर्वान् एकश्नुष्टीन् कृणोमि।

'प्रेमपूर्वक सेवा से सभी की मदद करता हुआ मैं सभी को एक ही ध्येय की ओर प्रेरित करता हूँ। जनता का सर्वश्रेष्ठ सेवक वही है, जो निःस्वार्थ सेवा करे। जनसेवा एक महान् यज्ञकर्म है। ईश्वर इसीलिये सर्वश्रेष्ठ है कि वह निःस्वार्थभाव से सबकी सेवा या मदद करता है।

इस प्रकार सेवाभाव रूपी कर्म से मनुष्य का विकास होता है। वेद का सिद्धान्त है, 'क्रतुमयोऽयं पुरुषः' अर्थात् यह मनुष्य कर्ममय है। मनुष्य की उन्नति कर्माधीन है, इसलिये उसे हमेशा प्रशस्ततम कर्म ही करने चाहिए। वे कर्म ऐसे हों कि जनता में संगठन हो, उसमें एकता बढ़े और आपस में कलह न हो। 'संव्रताः संराधयन्तः, सधुराश्चरन्तः सध्रीचीनाः, एकश्नुष्टी आदि शब्दों से इसका उपदेश किया गया है।

इस प्रकार संगठन करके अन्त में विजय प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

शिक्षा राष्ट्र का आधार है। जिस राष्ट्र की जनता सुशिक्षित, सभ्य एवं सुसंस्कृत होगी, वही राष्ट्र उन्नति कर सकता है। अशिक्षा किसी भी राष्ट्र के लिये अभिशाप है। इसी को दृष्टि में रखकर प्राचीन ऋषि मुनियों ने यह सार्वत्रिक नियम बना दिया था कि राष्ट्र में कोई भी मनुष्य अशिक्षित न रहे। राजा की ओर से राज्य में यह प्रबन्ध होता था। उस समय जगह-जगह गुरुकुलों का जाल बिछा हुआ था। उनमें जीवन को समुन्नत करने वाली शिक्षा बालक-बालिकाओं को दी जाती थी। सभी को मनोऽनुकूल विषय पढ़ने का अधिकार था। इस तरह अथर्ववेदीय ऋषि स्त्री-पुरुषों की शिक्षा में कोई भेद-भाव नहीं रखता था।

मानवाधिकार की मूल भावना विश्व कल्याण की उदात्त भावना में निहित है। इसकी रक्षा के लिये ही आजकल मानवाधिकार की विभिन्न संस्थाएँ प्रयत्नशील हैं। मानव-मंगल का सबसे बड़ा बाधक उसका मन है। मन ही उसकी उन्नति-अवनति, सद्गति-दुर्गति, शुभाशुभ प्रवृत्तियों यहाँ तक कि बन्धन-मोक्ष का हेतु है। इस मानवाधिकार की मूल भावना को पहचानकर हमारे ऋषियों ने मन को शुभ संकल्प समन्वित करने का निर्देश बड़ी सुन्दर उपमा के माध्यम से इस मन्त्र में दिया है-

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसप्रल्पमस्तु॥ वाजसनियसंहिता, अ० 34, मन्त्र 6

मानव क्या पशुओं तक के कल्याण की कामना हमारे ऋषियों ने की है-

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नौ अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥ - अथर्ववेद, 1/31/4

"हमारे माता-पिता का कल्याण हो। गायों, सम्पूर्ण संसार और सभी मनुष्यों का कल्याण हो। सभी कुछ सुदृढ़ सत्ता और शुभ ज्ञान से युक्त हो और हम अनन्तकाल तक सूर्य को देखें।"

यदि सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्ण मानवता वेदों में निर्दिष्ट इन मानवाधिकारों को अपने जीवन शैली का अंग बना ले तथा परस्पर वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन्हें अपना ले तो कहीं भी मानवाधिकार का हनन नहीं होगा और न ही इस प्रकार के आयोजनों की अपेक्षा रहेगी।

डॉ. राम जीत मिश्र

पूर्व एसोशियेट प्रोफेसर एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष

19-20, चाणक्यपुरी, नैनीताल रोड, इज्जतनगर,

बरेली - 243 122